Volume 1; Issue 1;
Oct-Dec. 2024

E-ISSN: 3048-6742

Sanskriti-Samvahika

संस्कृति-संवाहिका

Peer Review Indexed Refreed Journal

Quarterly Journal

Editor-in-Chief

Dr. Ashwini Devi

Sanskriti-Samvahika संस्कृति- संवाहिका

E-ISSN:3048-6742

https://sanskritisamvahika.in

Volume 1; Issue 1; Oct. Dec. 2024; Page No. 16-20

Peer Review, Indexed and Refreed Journal

वैदिक युगीन वर्ण-व्यवस्था की अवधारणा

डॉ रश्मि यादव

असिस्टेंट प्रोफेसर

संस्कृत-पालि- प्राकृत एवं प्राच्य भाषा विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज

Email ID – drrashmi.au@gmail.com

सारांश

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। सामाजिक जीवन में व्यक्ति की कुछ मौलिक आवश्यकताएँ होती है, जिनका सभी व्यक्तियों के लिए समान महत्त्व होता है। इन सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जिन नियमों एवं मानदंडों के आधार पर समाज को वर्गीकृत किया जाता है उसे 'सामाजिक वर्गीकरण' कहा जाता है। वैदिक वाङ्मय में समाज एवं प्राणिमात्र के प्रति उदात्त भावना के दर्शन होते हैं। वैदिक ऋषियों के हृदय में विद्यमान सामाजिक आदर्शों का प्रस्फुटन समानता एवं समरसता पर आधारित वर्णव्यवस्था के रूप में दृष्टिगत होता है। आधुनिक सामाजिक परिदृश्य में इस व्यवस्था की प्रासङ्गिकता अधिक है क्योंकि वर्तमान समाज विघटनकारी तत्त्वों के प्रभावस्वरूप संकुचित एवं सङ्कीर्ण होता जा रहा है। आदर्श समाज की स्थापना हेतु वैदिक-सामाजिक मूल्यों पर आधारित वर्ण-व्यवस्था को अंगीकृत करने की आवश्यकता है जिससे व्यक्ति वैदिक मूल्यों को आत्मसात् करते हुए कुशलतापूर्वक सामाजिक जीवन व्यतीत कर सके।

मुख्य शब्द : वैदिक युग, वर्ण, वर्ण-व्यवस्था, वैदिक ऋषि

वैदिक ऋषियों ने समाज के सुव्यवस्थित संचालन के लिए वर्ण-व्यवस्था का प्रतिपादन किया। 'वर्ण' शब्द 'वृञ्' वरणे या 'वरी' धातु से उत्पन्न है जिसका अर्थ है- 'चुनना' या 'वरण करना।' वर्ण का तात्पर्य 'वृत्ति' अर्थात् 'किसी विशेष व्यवसाय के चुनने से' है। समाजशास्त्रीय भाषा में वर्ण उस

सामाजिक 'वर्ग' की ओर संकेत करता है जो अपने चुने हुए विशिष्ट व्यवसाय से आबद्ध है। वर्ण शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ऋग्वेद में 'रंग' के अर्थ में हुआ है- **गोभिष्टे वर्णमभि वासयामसि।**[i] इससे प्रतीत होता है कि आरम्भ में सामाजिक विभाजन त्वचा के रंग के आधार पर किया गया था। तात्कालिक समाज में दो वर्ण थे- आर्य और अनार्य (दास या दस्यु)। ऋग्वेद में इन दोनों वर्णों के विषय में यह वर्णन किया गया है कि इन्द्र आर्य एवं अनार्य को भली प्रकार जानते हैं- **वि जानीह्यार्यान् ये च दस्यवो।**[ii] वह दस्यु का संहारक एवं आर्यों का रक्षक है- **हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत्** ।[iii] वेदों में आर्यों का रंग (वर्ण) शुक्ल एवं दासों का रंग काला (श्याम) वर्णितो किया गया है- **कृष्णं च वर्णमरुणं च सं धुः ।**[iv] दास निम्न गुफाओं (अन्धकारपूर्ण स्थान) के निवासी होते हैं- **यो दासं वर्णमधरं गुहाकः** ।[v] साथ ही वेद में अनेकशः आर्य-अनार्य के पारस्परिक संघर्ष का उल्लेख किया गया है जिसमें आर्यों के विजय एवं अनार्यों के पराजय को घोषणा की गयी है- **विद्वान् वज्रिन् दस्यवे हेतिमस्याऽर्यं सहो वर्धया द्युम्नमिन्द्र।**[vi] वस्तुतः वैदिक समाज के प्रारम्भिक अवस्था में आर्य और अनार्य वर्ण के रूप में दो प्रतिपक्षी सामाजिक वर्ग थे जिसमें आर्य सदाचरण और सद्वृत्ति वाले थे जबकि अनार्य दुर्वृत्ति एवं अधर्म के अनुयायी थे। कालान्तर में द्विवर्ण (आर्य-अनार्य) की यह व्यवस्था चातुर्वर्ण व्यवस्था में परिणत हो गयी।

वैदिक युगीन वर्ण-व्यवस्था समानता पर आधृत सामाजिक वर्गीकरण का सुन्दर उदाहरण है। 'चारों वर्णों की उत्पत्ति एक ही विराट् पुरुष से हुई है', इस मान्यता द्वारा चारों वर्णों के समान महत्त्व को प्रतिष्ठापित किया गया है। जिस प्रकार शरीर में मुख, बाहु, उरु एवं पैर आदि सभी अङ्गो का समान महत्व है और किसी भी एक अङ्ग के अभाव में शरीर की स्थिति दयनीय हो जाती है, उसी प्रकार समाज में चारों वर्ण समान रूप से महत्त्वपूर्ण है और किसी भी एक वर्ण के अभाव में समाज का परिचालन एवं व्यवस्था सम्भव नहीं है। वैदिक वर्ण-व्यवस्था में वर्गीय भेदभाव का सर्वथा अभाव था। चरणों से उत्पत्ति के आधार पर शूद्रों की सामाजिक स्थिति अन्य वर्णों से निम्न थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता है क्योंकि पुरुषसूक्त में जिन पैरों से शूद्रोत्पत्ति की संकल्पना की गयी है; विष्णु के उन्ही पदक्रमों को "तेज से परिपूर्ण परम पद"- **वृष्णः परमं पदमव भाति भूरि।**[vii] एवं "मधु (अमृत या आनन्द) का उत्स" (**विष्णोः पदे परमे मध्व उत्सः**)[viii] कहा गया है। इस प्रकार परमपद से उत्पन्न शूद्र को अन्य वर्णों की अपेक्षा निम्न कहना न्यायसंगत नहीं है।

वैदिक युग में वर्ण-विभाजन का आधार कर्म था न कि जन्म। व्यक्ति किसी भी व्यवसाय को

चुनने के लिए स्वतंत्र था। कोई भी अनुवांशिकता के आधार पर पैतृक कार्य करने के लिए बाध्य नहीं था। ऋग्वैदिक युग में एक ही कुटुम्ब के लोग वैयक्तिक अभिरुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न व्यवसाय का चुनाव करते थे। ऋग्वेद में ऐसे अनेक उद्धरण प्राप्त होते हैं। एक ऋचा में ऋषि कहता है, "मैं कारु (मंत्र निर्माता) हूँ, मेरे पिता भिषक (वैद्य) और माता उपल-प्रक्षिणी (पीसने वाली) है। गाय जैसे गोष्ठ में घूमती है उसी प्रकार हम भी धन की कामना से पृथक-पृथक कार्य करते हैं"-

कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो वसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परि स्रव।[ix]

उस युग में ब्राह्मणत्त्व प्राप्ति का आधार कर्म था। उदाहरणार्थ वसिष्ठ की माँ अप्सरा (उर्वशी) और पिता क्षत्रिय (मित्रावरुण) थे किन्तु वसिष्ठ ब्राह्मण माने गये- "**उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठोर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधि जातः**"।[x] वसिष्ठ के पिता मित्रावरुण को मंत्रों में महान् और सत्यसम्पन्न सम्राट्- **महान्ता मित्रावरुणा सम्राजा देवावसुरा**[xi] तथा क्षत्रियवर्ण – **धृतव्रता क्षत्रिया क्षत्रमाशतुः**[xii] कहा गया है। उसी प्रकार याज्ञिक कर्म करने वाले और तपस्चर्या में रत ब्राह्मण ऋषि रथ निर्माण में भी कुशल थे- **एतं वां स्तोममश्विनावकर्मातक्षाम भृगयो न रथम्।**[xiii] ऋग्वैदिक युग में आर्यो तथा दामों के मध्य सौमनस्य था। ब्राह्मण दस्युओं के द्वारा किये दान को ग्रहण करता था। एक मंत्र में उद्धृत है कि वल्बूथ नामक एक दास ने ऋषि को सौ गौ दान में दी थी- **शतं दासे बल्बूथे विप्रस्तरुक्ष आ ददे।**[xiv] जबकि परवर्ती काल में शूद्रों द्वारा ब्रह्मण को दिया जाने वाला दान अग्राह्य हो गया।

उपनिषद् युग में 'क्षत्रिय' योग्य प्रशासक और वीर योद्धा होने के साथ उच्च कोटि के शिक्षक, दार्शनिक और विद्वानों के संरक्षक भी होते थे जो सदैव बौद्धिक गवेषणा में रत रहते थे। विदेह शासक जनक ने विद्वद्गोष्ठी का आयोजन किया था- **जनको ह वैदेहो बहुदक्षिणेन यज्ञेनेजे तत्र ह कुरु पञ्चालाना ब्राह्मणा अभिसमेता बभूवुः।**[xv] जिसमें अन्य विद्वानों के साथ स्वयं जनक ने भी याज्ञवल्क्य ऋषि से दर्शन के अनेक गूढ़ विषयों पर विचार-विमर्श किया।[xvi] उस युग में कतिपय विद्याओं के प्रवर्तक एवं उपदेष्टा केवल क्षत्रिय ही थे। श्वेतकेतु के पिता आरुणि उद्दालक ब्राह्मण होते हुए भी 'पञ्चाग्नि विद्या' की शिक्षा क्षत्रियशासक पाञ्चाल नरेश प्रवाहण जैबलि से प्राप्त की थी'[xvii] क्योंकि यह विद्या सर्वप्रथम क्षत्रिय को प्राप्त हुई, न कि ब्राह्मण को- **तं होवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान्गच्छति तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मै होवाच।**[xviii] प्रवाहण के समान ही क्षत्रिय नरेश

अश्वपति 'आत्मरूप वैश्वानर' के ज्ञाता थे। उनके पास ब्राह्मण ऋषि उद्दालक अन्य विद्वानों के साथ अध्ययनार्थ गये थे। इसी प्रकार काशी के क्षत्रिय राजा अजातशत्रु ने बालकि गार्ग्य इत्यादि ब्राह्मणों को अध्यात्म-ज्ञान प्रदान किया था। इससे स्पष्ट है. वैदिक यगीन वर्ण-व्यवस्था में जन्म के आधार पर वर्ण का विभाजन नहीं होता था। श्रीकृष्ण ने भी वर्ण-विभाजन का आधार 'गुण' और कर्म को ही बताया है- **चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः** ।[xix]

वैदिक वर्णव्यवस्था की व्यापक अवधारणा स्मृति एवं सूत्र काल में संकीर्ण विचारधारा में परिवर्तित हो गयी। नवीन सामाजिक व्यवस्था में भेदपरक भावना का प्रादूर्भाव हुआ जिससे स्मृति ग्रंथों में अनुवांशिकता के आधार पर जाति का निर्धारण किया जाने लगा[xx] और जातिगत व्यवसाय को अपनाने के लिए बाध्यकारी नियमों की व्यवस्था की गयी। परिणामस्वरूप वर्णव्यवस्था में परस्पर श्रेष्ठता एवं कनिष्ठता का भेद उत्पन्न हुआ और जाति-व्यवस्था अस्तित्त्व में आयी।।

वस्तुत: वैदिक वर्ण-व्यवस्था सामाजिक सद्भाव एवं समानता पर आधृत थी। वेदों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र- इन चारों वर्णों के घनिष्ठ सम्बन्ध एवं चारों के तेजस्वी होने की कामना की गयी है-

रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।

रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचा रुचम् ।।[xxi]

वेदों ने मानव को आदेश दिया है कि चाहे शूद्र हो या आर्य, सबका प्रिय देखो-**प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये**।[xxii] वस्तुतः वर्ण के आधार पर किसी प्राणी के अहित का विचार करना वैदिक आर्यजनों को कदापि प्रिय नहीं था।

वैदिक वर्ण-व्यवस्था वह व्यापक अवधारणा है जिसमें जन्मना उच्च-निम्न की सङ्कीर्ण भावना के लिए कोई स्थान नहीं है। तीक्ष्ण बौद्धिक क्षमता एवं नैतिकता को आत्मसात् करने वाला प्रत्येक व्यक्ति शिक्षा का अधिकारी माना गया है। इसके लिए ब्राह्मण कुल में जन्म की अनिवार्यता नहीं थी। उपनिषद्युगीन आचार्य हरिद्रुमत गौतम ने दासी-पुत्र सत्यकाम जाबाल के सत्यवचन से प्रभावित होकर उसे अपना शिष्यत्व प्रदान किया और कालान्तर में वही सत्यकाम स्वयं विख्यात आचार्य बना।[xxiii] वैदिक वर्ण व्यवस्था में कोई अस्पृश्य नहीं था। इस व्यवस्था के आदर्श स्वरूप से प्रभावित होकर रामधारी सिंह दिनकर कहते हैं - "जाबाल-पुत्र सत्यकाम को ब्रह्मविद्या का अधिकारी मानकर उपनिषद् के ऋषि ने, मानो, यह खुली घोषणा की है कि ब्राह्मण-अब्राह्मण का भेद व्यर्थ है- यहाँ तक की जारज-सन्तान भी यदि सत्यावादी है तो उसे ब्राह्मण के सभी अधिकार मिलने चाहिए।[xxiv] वैदिक वर्ण-व्यवस्था में शूद्र वर्ण के व्यक्ति को

ज्ञानार्जन का अधिकार था। जानश्रुति पौत्रायण नामक शूद्र ने महर्षि रैक्व से संवर्ग विद्या का उपदेश प्राप्त किया था।[xxv]

वैदिक समाज से किसी भी आधार पर मानव-मानव में भेद न करने की प्रेरणा प्राप्त होती है। आर्यों के लिए सभी मानव अमृत-सन्तान है (श्वेदा० 2.5)। सभी जीव में ईश्वर का साक्षात्कार करने वाले महान् ऋषियों की दृष्टि में इस संसार का कोई भी प्राणी घृणा के योग्य नहीं है। वे घोषणा करते हैं- जो व्यक्ति सम्पूर्ण प्राणियों का परमात्मा में और समस्त प्राणियों में परमात्मा को देखता है वह कभी किसी से घृणा नहीं करता है (ईश० 6)। जिसके लिए, सभी प्राणी परमात्मा रूप हो जाते है उस योगी के लिए कोई मोह या शोक नहीं रह जाता है (ईश० 7)। यह उच्च सामाजिक आदर्श आज भी भाषा, धर्म, जाति, शिक्षा, लिङ्ग एवं धन-सम्पत्ति के आधार पर भेद करने वाले मानव को सभी से प्रेम करने का दिव्य सन्देश देता है। आर्यों के लिए सम्पूर्ण विश्व ही बन्धुवत् था। ऋग्वेद के संज्ञान सूक्त में अभिव्यक्त समानता और लोक कल्याण की भावना वैदिक समाजवाद का प्रतीक है तो वहीं अथर्ववेद के पृथिवीसूक्त में सम्पूर्ण पृथ्वी को माता कहकर सभी सन्तानों अर्थात् सम्पूर्ण मानव को स्वजन मानने का भाव प्रदर्शित किया गया है। वैदिक समाज का यह उदात्त स्वरूप पाश्चात्य विद्वानों को भी आश्चर्यचकित करता रहा है। मैक्समूलर महोदय का मत है- "विश्वबन्धुत्व का जो उपदेश हमें इस भाषा में मिलता है वह कहीं भी नहीं मिल सकता था। यदि संस्कृत में हमें अन्य कोई उपलब्धि नहीं हुई होती तो भी केवल इसी एक उपलब्धि के सहारे इसकी उपादेयता सर्वाधिक है।""[xxvi]

---

[i] ऋग्वेद 9.104.4
[ii] ऋ०वे0 1.51.8
[iii] ऋ०वे0 3.34.9
[iv] ऋ०वे0 1.73.7
[v] ऋ०वे0 2.12.4
[vi] ऋ०वे० 1.103.3
[vii] ऋ०वे0 1.154.6-
[viii] ऋ०वे0 1.154.5
[ix] ऋ०वे0 9.112.3
[x] ऋ०वे0 7.33.11
[xi] ऋ०वे० 8.25.4
[xii] ऋ०वे० 8.25.8
[xiii] ऋ०वे० 10.39.14
[xiv] ऋ०वे 8.46.32
[xv] बृ०उ0 3.1.1
[xvi] बृ०उ० 4.1.1-2
[xvii] छा०उ0 5.3.1
[xviii] छा०उ० 5.3.7
[xix] श्रीमद्भगवद्गीता 4.13
[xx] मनुस्मृति – 10.5-40
[xxi] यजु0 18.48
[xxii] अ०वे० 19.62.1
[xxiii] छा०उ0 4.4.1-5
[xxiv] रामधारी सिंह 'दिनकर'- संस्कृति के चार अध्याय, पृ०सं०- 96
[xxv] छा०उ0 4.2.1-5, 4.3.1-4
[xxvi] हम भारत से क्या सीखे? पृष्ठ संख्या 47